आओ कुछ सोचें (2)

आपको शायद याद हो, पिछली बार हमने आपको कुछ नया सोचने को निमंत्रण दिया था। पर यह नये-पुराने की बात क्या है? और विचार नया है या पुराना इसका फैसला कौन करेगा और कैसे करेगा? यह तो इतिहास की बात हो जाएगी और फिर जो किसी को नया लगता है उसे कोई दूसरा यह बताकर हमेशा पुराना साबित कर सकता है कि किसी ने वैसा पहले भी सोचा था। इसलिए बात पुराने या नये की नहीं है, सिर्फ विचार करने की है, यह सोचे बगैर कि वह नया है या नहीं।

पर आखिर यह सोचना क्या है और सोचने का अर्थ क्या होता है? एक तरह से देखें तो सोचना किसी प्रश्न या समस्या के संदर्भ में ही होता है। जब तक कोई सवाल पैदा नहीं हो या कोई समस्या नहीं हो तब तक हम उसका उत्तर या हल भी नहीं ढूँढ़ते, और एक तरह से कहें तो जवाब की तलाश करना या हल को खोजना ही विचार करना होता है। लेकिन, समस्याएँ तो कई प्रकार की हो सकती हैं और सवाल भी अनेकों प्रकार के। पर जिस सोचने की बात हम कर रहे हैं वह एक प्रकार के सवालों से या समस्याओं से खास तौर पर जुड़े प्रतीत होते हैं और वे प्रधानत: बुद्धि से ही सम्बन्ध रखते हैं। कहने का मतलब यह है कि अगर हमारे सवाल या हमारी समस्या शुद्ध रूप से बौद्धिक नहीं है तो वह 'विचार' की श्रेणी में नहीं आएगी। कम से कम उस 'विचार' की जिसे हम फिलसफा कहते हैं। पर बुद्धि के संदर्भ में सवाल या समस्या का उठना एक तरह से यह महसूस करना है कि कुछ ऐसा है जो ठीक नहीं है या जो नहीं होना चाहिए। लेकिन यह 'ठीक' नहीं लगना या यह महसूस करना कि ऐसा नहीं होना चाहिए, किसी वस्तुस्थिति के बारे में नहीं है जो अपने को ठीक करने के लिए किसी कर्म की अपेक्षा करती है। न यह किसी भावजगत् की बात है जहाँ हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे चित्त की जो अवस्था है वह वैसी नहीं होनी चाहिए जैसी है। यही नहीं, वह कुछ ऐसा भी नहीं कि हमारा जो इन्द्रियों से गृहीत जगत् है उसमें ऐसा लगता हो कि भिन्न-भिन्न विषय इस प्रकार से व्यवस्थित नहीं है कि उनकी व्यवस्था सुरुचिपूर्ण और सुन्दर लगे।

कहने का मतलब यह है कि ये प्रश्न या समस्याएँ न तो कोई धर्म की समस्याएँ हैं ओर न अध्यात्म की, और न रस की। दूसरी ओर ये उन समस्याओं से भी भिन्न हैं जो सत्य की खोज के संदर्भ में उठती हैं और जहाँ सत्य और असत्य का प्रश्न पैदा होता है। सवाल यही नहीं है कि वस्तुस्थिति क्या है और क्या वह वैसी ही है जैसा हम उसके बारे में सोचते हैं। यह साधारणत: ज्ञान की समस्या कहलाती है। परन्तु जिन समस्याओं की हम बात कर रहे हैं और जिसे हम 'शुद्ध विचार' का नाम दे रहे हैं वे समस्याएँ कुछ और ही हैं, हालाँकि वे इन सब संदर्भों में पैदा हो सकती हैं। कहने का मतलब यह है कि हालांकि वे समस्याएँ न अध्यात्म की हैं, न ध्यान की, न धर्म की, और न सत्य-असत्य ठहराये जाने वाले ज्ञान की, पर वे इन सबके संदर्भ में उठ सकती हैं। और जब वे उठती हैं तब उनका रूप कुछ भिन्न होता है।

वह रूप क्या है, यह एक तरह से विचार पर विचार करना है। यहाँ विचार किसी अन्य विषय से सम्बन्धित न होकर स्वयं अपने को ही विषय रूप में पाता है और उसी से एक विशेष प्रकार की समस्या उत्पन्न होती है जिसे शुद्ध बौद्धिक समस्या कहा जा सकता है, क्योंकि उसका हल किसी क्रिया के द्वारा या ध्यान के द्वारा या किसी खोज के द्वारा नहीं हो सकता। उसका समाधान खुद बुद्धि ही कर सकती है। बुद्धि ही उसमें उलझती है और बुद्धि ही उसे सुलझा सकती है, और सुलझाने की प्रक्रिया में हो सकता है कि वह किसी नई बौद्धिक समस्या को जन्म दे जो उसे फिर अपने को सुलझाने का आमंत्रण दे। और इस तरह से यह प्रक्रिया अनन्त हो सकती है। यह बुद्धि का अपना स्वरूप है जहाँ वह अपनी समस्या खुद उत्पन्न करती है और उसका निराकरण भी खुद ही अपने साधनों से खोजती है।

बुद्धि का यह स्वतंत्र क्षेत्र उसका अपना जगत् है जिसका वह स्वयं निर्माण करती है और जिसमें वह स्वच्छन्द रूप से विचरण करती है। उसे इसी में एक ऐसे शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है जो न किसी विषय-जगत् की वस्तु से प्राप्त होता है जो इन्द्रियों से ग्राह्य हो, न वह किसी ऐसे अन्य विषय से प्राप्त हो सकता है जो किसी अन्य प्रकार से हमें प्राप्त हो। इसका मतलब यह नहीं है कि इन अन्य क्षेत्रों के अपने स्वतंत्र जगत् नहीं हैं और उनका अपना अलग-अलग आनन्द नहीं है। यह तो केवल इस बात की ओर इशारा करना है कि बुद्धि का भी अपना जगत् है और उसकी भी ऐसी निजी समस्याएँ हैं जो किसी अन्य जगत् की नहीं हैं। एक तरह से जिसको हम दार्शनिक कहते हैं वह ऐसा प्राणी होता है जिसकी सहज रुचि और प्रवृत्ति इस जगत् में विचार करने की होती है। परन्तु बुद्धि के पीछे भी चेतना का एक ऐसा स्तर होता है जो बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करता है और उसके द्वारा एक जगत् की संरचना करता है। वही चेतना बुद्धि के अन्य प्रयोग भी करती है जहाँ वह बुद्धि को केवल साधन के रूप में ही स्वीकार करती है, साध्य के रूप में नहीं।

ज्यादातर 'सोचना' इसी तरह का होता है और वह किसी अन्य जगत् की समस्या को सुलझाने के लिए किया जाता है। अगर वह समस्या सुलझ जाती है, या थोड़ी देर के लिए भी उसका कोई हल निकल आता है तो फिर उसको बुद्धि की ज़रूरत महसूस नहीं होती। असल में उसके लिए बुद्धि का उपयोग केवल वहीं तक सार्थक होता है, जहाँ तक वह उसकी समस्याएँ सुलझाने में सहायक हो। इसके परे तो उसको बुद्धि से ज्यादा बेकार की चीज़ और कुछ नहीं लगती।

एक तरह से देखें तो यह सब क्षेत्रों का अपना स्वरूप ही है कि वे अन्य सब क्षेत्रों को अपने लिए साधन रूप में ही स्वीकार करते हैं, साध्य रूप में नहीं। ऐसा इसलिए भी होता है कि प्रत्येक क्षेत्र का एक अपना 'अहम्' होता है जो उसको उसका वैशिष्ट्य ही प्रदान नहीं करता बल्कि चेतना जब उससे संलग्न होती है या उससे तादात्म्य स्थापित करती है तो वह 'अहम्' एक तरह से उस क्षेत्र का स्वरूप ही धारण कर लेता है। शरीर के साथ तो यह बात सब को साफ नजर आती है। शरीर मेरा है, इसके गुण-अवगुण मेरे हैं, इसका दु:ख-दर्द मेरा है, ऐसा हम देखते और अनुभव करते हैं। पर यह बात अन्य क्षेत्रों के लिए भी उतनी ही सहज रूप में लागू होती है जैसी कि शरीर के बारे में ऐसा साधारणत: सहज रूप में कम लोग ही स्वीकार करते हैं। पर, यह इच्छा मेरी ही है, यह कल्पना मेरी है, यह विचार मेरा है, यह ध्यान मैं कर रहा हूँ, भगवान् के दर्शन मुझे हुए हैं, मोक्ष की अनुभूति मुझे हुई है, ऐसे हजारों दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। और चेतना का हर क्षेत्र में यह 'अहम्' रूप लेना स्वाभाविक ही है। परन्तु इससे जो अलग-अलग जगत् की सृष्टि होती है और जिनमें चेतना विचरण करती है उनका विस्तृत निरूपण अभी तक शायद ही किसी ने किया हो, न ही इनके आपस के सम्बन्धों की चर्चा की गई है। इस बात पर भी विचार नहीं किया गया है कि चेतना इन अनेक जगतों की संरचना कैसे करती है और इनसे अपने को कैसे अलग करती है! दूसरी तरह से कहें तो अपने को इनसे कैसे हटा लेती है या बाहर कर लेती है!

चेतना की यह शक्ति जिससे वह किसी भी क्षेत्र में प्रवेश कर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है और उसी में अपना 'अहम्' देखती है और उस क्षेत्र के जो अपने मूल्य हैं उनकी सार्थकता में ही अपना भी मूल्य मानती है और उनमें निहित पुरुषार्थों या आदर्शों को चरितार्थ करने में ही अपनी सफलता समझती है, और दूसरी ओर, वह किसी भी क्षेत्र से अपने को हटा सकती है या उससे अपने को विलग कर सकती है, ये दोनों शक्तियाँ उसमें इस प्रकार से अन्तर्निहित दिखाई पड़ती हैं कि उनको एक-दूसरे से अलग करना मुश्किल प्रतीत होता है। अधिकतर तो ऐसा लगता है कि एक क्षेत्र से हटकर चेतना किसी अन्य क्षेत्र में ही प्रवेश करती है, पर जब स्वचेतन प्राणी चेतना की इस क्षमता या शक्ति की ओर ध्यान देता है तो वह यह कल्पना करता है कि शायद चेतना की एक ऐसी अवस्था भी हो

सकती है जहाँ वह सब प्रकार के विषय-जगतों से हटकर स्वयं अपने में ही अवस्थित हो जाये या स्वयं अपने ही विशुद्ध रूप में स्थापित हो जाये। ऐसा कुछ-कुछ मनुष्य को सोने की अवस्था में महसूस होता है और नित्य प्रतिदिन जो 'सोने' और 'जागने' की प्रक्रिया है वह कुछ उसी प्रकार मालूम होती है।

चेतना के ऊपर बताए गए दो पहलुओं पर हमारी परम्परा में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। कुछ लोगों ने इसको प्रवृत्ति और निवृत्ति के रूप में समझा तो कुछ औरों ने अव्यक्त और व्यक्त की बात की, और कुछ अन्य संदर्भों में सृष्टि और प्रलय या प्रसार और संवरण की। पर करीब-करीब इनमें से सभी ने चेतना की अपनी ओर पूरी तरह से उन्मुख होकर अपने में सहज रूप से स्थिर होने की अवस्था को ही श्रेष्ठतर माना है। यह कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे कि कोई 'सोने' को सबसे अच्छा समझे और 'जागने' को विकृति मात्र, या कहें तो ऐसी अवस्था जो पूरी तरह से अवांछनीय और असत्य है। पर, जहाँ तक हमारा अनुभव है और जहाँ तक मनुष्य मात्र का अनुभव है उसे तो जागने के बाद सोना और सोने के बाद जागना ही अच्छा लगता है। चिरन्तन 'जागना' या 'सोना' या हमेशा सोना या हमेशा जागना तो बीमारी ही समझी जाएगी। और सोचिए तो इससे बुरा क्या हो सकता है कि आप सो नहीं सकें या सोते ही रहें और कभी जागें ही नहीं। मृत्यु एक तरह से चिरन्तन 'सोने' के समान ही है, पर मनुष्य की चेतना ने उसको कभी भी स्वीकार नहीं किया है। उसने तो उसको इस रूप में ही माना है कि या तो वह किसी अन्य लोक में 'जागने' की प्रक्रिया है या फिर कुछ अन्तराल से इसी लोक में फिर जन्म लेने की। जन्म और मृत्यु कुछ-कुछ जागने और सोने के समान ही लगते हैं और इसीलिए शायद भारतीय चिन्तन में जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की उस सहज रूप में परिकल्पना की गई है, जिस सहज रूप में हम रोजमर्रा 'सोने' और 'जागने' की प्रक्रिया अनुभव करते हैं।

अगर हम अपने इस अनुभव की ओर थोड़ा अधिक ध्यान दें तो बहुत सारी स्वत: सिद्ध सी माने जाने वाली बातें अजीब सी लगेंगी। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' या 'मृत्योर्मा अमृतंगमय' कुछ-कुछ ऐसे ही से लगते हैं। आखिर सोचिए निरन्तर प्रकाश में कौन रहना चाहेगा? जब हम सोना चाहते हैं तो थोड़ा सा भी प्रकाश जो कमरे में होता है उसको भी बंद कर देते हैं। स्वयं पृथ्वी अपनी परिक्रमा में आपको ऐसी भी रातें देती है जब प्रकाश कम से कम होता है। रोशनी में तो आदमी सो नहीं पाता और दूसरी ओर यह भी उतना ही सच है कि सोने के बाद उठकर जब मनुष्य सूर्योदय की ओर देखता है तो उसके हृदय में जो सहज आश्चर्य, आनन्द और उल्लास जागृत होता है वह सृष्टि के प्रारम्भ जैसा ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार चिरन्तन जीवन, जिसमें मृत्यु हो ही नहीं, उतना ही दु:खकारी लगेगा और इसीलिए हमें अमरत्व की इच्छा उतनी ही बेमानी लगती है जितनी कि एक ऐसे

संसार में रहने की जहाँ कभी अंधकार हो ही नहीं और जहाँ केवल चिरन्तन प्रकाश हो। जो लोग चिरन्तन प्रकाश की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि कई देशों में सबसे बड़ी सजा यही दी जाती थी कि वे चिरन्तन चौंधिया देने वाले प्रकाश में रहें और पलक भी नहीं झुका सकें। हो सकता है कि ऐसे प्राणी हों जो सदैव प्रकाश या सदैव अंधकार में रहते हों, पर हम जिस प्राणि-जगत् को जानते हैं और जिसके हम सदस्य हैं उसमें तो ऐसा कुछ होना जीवन की मूलभूत संरचना को ही समाप्त कर देना होगा।

कोई कह सकता है कि हम एक बड़ी भारी भूल कर रहे हैं, क्योंकि हम यह मानकर चल रहे हैं कि हमारी जो आज की चेतना है वही उन लोगों में भी रहेगी जो उस लोक के वासी होंगे जहाँ सदैव प्रकाश और अमरत्व होता है। वहाँ की तो चेतना ही अलग होगी और उस चेतना में उस प्रकार का वातावरण इस तरह से प्रतीत नहीं होगा जैसा हम सोचते हैं। हो सकता है कि यह बात ठीक हो, परन्तु इस तरह तो सब कुछ चेतना सापेक्ष हो जाएगा ओर प्रत्येक चेतना के अपने अलग-अलग आदर्श और आनन्द होंगे। यह काफी हद तक ठीक भी लगता है, पर इस तरह कम से कम मनुष्य की चेतना जिसके बारे में भी हम थोड़ा-बहुत जानते हैं उसके अपने में निहित पुरुषार्थ की बात उस चेतना को पूर्णरूपेण नकार कर नहीं की जा सकती, हालांकि ऐसा अनेक विचारकों ने किया है। ऐसे लोगों का मत है कि मनुष्य की समस्याओं का निराकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक मनुष्य की चेतना में ही मूलभूत परिवर्तन न हो। आधुनिक युग में श्री अरविन्द ने इस मत का जोरदार प्रतिपादन किया है और अपनी पुस्तक 'दिव्यजीवन' में विस्तार से इसकी आधारभूमि प्रस्तुत की है। पर, अगर यह सच भी हो तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्येतर जो अवस्था है उसकी भी अपनी समस्याएँ होंगी जिनका निराकरण उस लोक से किसी अन्य लोकोत्तर जगत् का प्राणि होने पर ही होगा। पर इस प्रकार का विचार तो अनन्त लोकों की सृष्टि करेगा। एक लोक की मूलभूत समस्या अन्य लोक का सदस्य होने पर ही हल हो सकेगी, परन्तु इससे कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होगी जहाँ कोई मूलभूत समस्या हो ही नहीं।

इस तरह से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक लोक की दो प्रकार की समस्याएँ होती हैं। एक तो वे जो उस लोक की रचना के मूल में जो संस्थान है, जिसकी वजह से वह लोक है और कोई अन्य लोक नहीं, उससे उत्पन्न होती हैं। और क्योंकि वे उस लोक के 'लोक' होने से ही उत्पन्न होती हैं इसलिए वे उस लोक के प्रत्येक प्राणी के लिए हमेशा इस प्रकार से रहती हैं कि वह उनका कभी भी निराकरण कर ही नहीं सकता, हालाँकि उसको यह भ्रम हमेशा ही होता रहता है कि उनका निराकरण सम्भव है। दूसरी ओर वे समस्याएँ हैं जो उस जगत् की अनेकानेक विशिष्ट स्थितियों से उत्पन्न होती हैं और जिनका निराकरण भी हो

सकता है। इन दूसरे प्रकार की समस्याओं के निराकरण का अपना एक इतिहास होता है जो इस भावना को जन्म देता है कि उस लोक के प्राणी इन समस्याओं को हल करने में कुछ प्रगति के पथ पर हैं और उनका इस दिशा में कुछ विकास भी हो रहा है, हालांकि यह भी उतना ही सच मालूम होता है कि एक प्रकार की समस्याओं का हल किन्हीं दूसरे प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है। पर एक तरह से प्रगति का रूप ही यह है और इसलिए उसको समस्याओं के अन्त के रूप में देखना ठीक प्रतीत नहीं होता, बल्कि अगर उसे इस तरह से समझें कि वह समस्या और समाधान की एक ऐसी अनन्त शृंखला है जो कभी भी समाप्त होने वाली नहीं है तो शायद हम उसके सही रूप को पकड़ पायेंगे। पर जहाँ एक ओर इन समस्याओं का समाधान और नई समस्याओं का उदय कालक्रम में प्रगति की सम्भावनाओं को उत्पन्न करता दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर लोक के मूल संस्थान से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ उस लोक के प्राणियों की उस 'चिरन्तन' दशा की ओर इशारा करती हैं जिसकी ओर दृष्टि आकर्षित होते ही ऐसा लगता है कि उस लोक के सभी प्राणी, चाहे वे किसी भी देशकाल में अवस्थित हों, एक ही तरह के हैं और उनमें कोई मूलभूत भेद नहीं है। जो भेद दिखाई देते हैं वे केवल ऊपरी या सतही हैं और प्रत्येक लोक के प्राणी एक तरफ तो यह सोचकर अपने को आश्वस्त करते हैं कि वे उसी लोक के अन्य प्राणियों से, जो किसी दूसरे देशकाल में थे, से बेहतर हैं और दूसरी ओर वे यह कल्पना भी करते हैं कि कोई ऐसा अन्य लोक होगा जिसमें उनकी समस्याओं का पूरा हल हो जाएगा।

भारतीय परम्परा में अधिकतर इस सम्भावना को इस प्रकार से देखा गया है कि वह एक ऐसी स्थिति है जहाँ दु:ख की सम्भावना मात्र भी नहीं है और इसी को मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, नि:श्रेयस् आदि शब्दों के द्वारा इंगित किया गया है और मनुष्य की चरम साधना भी यही मानी गई है कि वह इस स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करे। महावीर और बुद्ध ऐसे चिन्तन और साधना के पूर्ण प्रतीक माने गए हैं। पर जो हमने कहा है यदि वह जरा भी ठीक है तो इसको केवल भ्रान्ति ही मानना पड़ेगा।

दूसरी ओर ऐसा भी कहा जा सकता है कि हमारे ऊपर के सारे कथन एक ऐसी मूल भ्रान्ति पर आश्रित हैं जिसके बारे में यह सोचना भी मुश्किल है कि कोई इतनी बड़ी गलती कैसे कर सकता है! ऐसा कहा जा सकता है कि हमने अनेकानेक वाक्यों का अर्थ अभिधा के रूप में लिया है जबकि उसको लक्षणा या व्यंजना के रूप में लेना चाहिए। जब कोई यह कहता है कि अंधकार से प्रकाश की ओर जाओ तब उसका अर्थ स्पष्टत: यह नहीं है कि जिसको हम अँधेरा कहते हैं उससे किसी ऐसी जगह जाओ जहाँ हमेशा रोशनी ही रोशनी रहे और अँधेरा कभी न हो। 'अँधेरा' और 'प्रकाश' इस संदर्भ में रूपक के रूप में लिये जाने

चाहिएँ। जैसे अज्ञान को भी अंधकार की अवस्था ही माना जाता है और ज्ञान को प्रकाश की। इसी तरह से और बातों को भी समझना चाहिए। इनको उनके साधारण रूढ़ अर्थ में लेना तो उनके साथ अन्याय करना ही होगा।

परन्तु यह बात प्रथम दृष्टि में कितनी ही ठीक लगे थोड़ा अधिक सोचने पर ऐसा लगेगा कि इससे समस्या का कोई विशेष हल नहीं होता। चलो थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि 'अंधकार' और 'प्रकाश' का अर्थ लक्षणा या व्यंजना के रूप में लेना चाहिए जैसा कि हम तब लेते हैं जब कोई कवि किसी स्त्री के मुख का वर्णन 'चन्द्रमा के समान होने' से करता है। पर क्या ऐसा ही मृत्यु और अमृतत्व या मोक्ष, निःश्रेयस् या निर्वाण आदि के बारे में भी माना जाएगा? और अगर इन सबको भी लक्षणा या व्यंजना के रूप में लें तो फिर अध्यात्म-साधना की सारी परम्पराएँ क्या एक विशेष रूप में भ्रममूलक नहीं होंगी? क्योंकि जो लोग उनकी प्राप्ति के लिए अनवरत प्रयत्न करते हैं कम से कम वे तो उनको लक्षणा के रूप में मानकर नहीं करते। क्या कोई जैन यह मानने के लिए तैयार होगा कि महावीर सर्वज्ञ नहीं थे और क्या कोई भगवान् बुद्ध का अनुयायी यह मानने को तैयार होगा कि उन्हें निर्वाण प्राप्त होने की बात कुछ-कुछ ऐसी ही है जैसे कि किसी स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कोई उसको 'चन्द्रमुखी' कहकर सम्बोधित करे! यह बात इस संदर्भ में और भी गम्भीर हो जाती है जब आप यह सोचें कि भगवान् बुद्ध सम्यक् सम्बोधि के बाद भी रुग्ण हुए और मृत्यु को भी प्राप्त हुए। इसी प्रकार भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की बात के संदर्भ में स्वयं भगवान् बुद्ध ने शायद कहा था कि यदि वे सर्वज्ञ हैं तो फिर ऐसे द्वार पर भिक्षा के लिए क्यों जाते हैं जहाँ कुछ भी नहीं मिलेगा? पर एक प्रकार से समस्या और भी गहरी है, क्योंकि ऐसा कहा गया कि भगवान् बुद्ध ने यह पूछे जाने पर कि क्या वे सर्वज्ञ हैं, कहा था कि वे सर्वज्ञ तो नहीं हैं परन्तु इच्छा करें तो वे जान सकते हैं कि क्या होने वाला है। यदि यह कथा सच है तो इसका अर्थ होगा कि सब कुछ पहले से ही नियत है। तब साधना का कोई अर्थ नहीं रहेगा क्योंकि यह भी नियत होगा कि आप साधना करेंग या नहीं और साधना से आपको सिद्धि मिलेगी या नहीं? और फिर इस मत और गोशालक या मकखली घोषाल के मत में क्या अन्तर है? यदि सब कुछ नियत है तो मनुष्य की स्वतंत्रता का क्या स्थान होगा?

ऐसा नहीं है कि परम्परा में कुछ इस प्रकार के भेद नहीं किये गये हैं। जैसा कि सबको मालूम है मीमांसकों ने यह कहने की कोशिश की थी कि विधि-वाक्यों के अलावा वेद में जो कुछ भी लिखा है वह सब अर्थवाद के रूप में लेना चाहिए। इसका मतलब यही है कि उसको उसके साधारण अर्थ में न लेकर लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ के रूप में लेना चाहिए। इसके विपरीत ब्रह्मसूत्र की परम्परा को मानने वाले दार्शनिकों ने वेद की प्रामाणिकता को केवल ब्रह्मपरक वाक्यों तक ही

सीमित माना और बाकी सब वाक्यों को एक तरह से 'अर्थवाद' के रूप में ही स्वीकार किया। पर जैमिनि के लिए 'स्वर्ग' का अर्थ तो अभिधा के रूप में ही लेना होगा। उसे भी लाक्षणिक मानने से तो उसको प्राप्त कराने वाले यज्ञों की स्थिति बहुत अजीब हो जाएगी। इसी तरह जब ब्रह्म को 'अनन्त' आदि विशेषणों से इंगित किया जाता है तो बादरायण की परम्परा को मानने वाले क्या केवल इसको लाक्षणिक रूप में ही स्वीकार करेंगे? कहने का अर्थ यह है कि क्या अभिधा है और क्या व्यंजना या लक्षणा इसका फैसला करना बहुत मुश्किल है और आसानी से यह कहना कि इसको अभिधा के रूप में लिया जाए और लक्षणा या व्यंजना के रूप में, इसका कोई ऐसा आधार प्रतीत नहीं होता जो सबको मान्य हो।

जो बात हमने अभी-अभी कही है उसके विरोध में एक और बात कही जा सकती है। वह यह है कि हमारा 'सत्' का विचार बहुत कुछ स्थूल इन्द्रिय-प्रत्यक्षात्मक वस्तुओं पर आधारित प्रतीत होता है, चेतना की सूक्ष्म अवस्थाओं पर वह लागू नहीं होता। क्योंकि उनका वर्णन उस प्रकार से किया ही नहीं जा सकता जिस प्रकार से हम साधारणतः इन्द्रियों से ग्रहण होने वाली जगत् की वस्तुओं के बारे में करते हैं। आखिर जब हम मनुष्य के भाव-जगत् की चर्चा करते हैं, या किसी उत्कृष्ट कलाकृति की बात करते हैं तो उसका वर्णन अभिधा के द्वारा हो ही नहीं सकता। आखिर यह भी सोचने की बात है कि भाषा का लक्षणात्मक या व्यंजनात्मक प्रयोग क्यों हुआ और उसकी ज़रूरत क्यों पड़ी! इस प्रकार के प्रयोग की आवश्यकता ही इस बात की ओर इशारा करती है कि जो 'सत्' है, या जिसका मनुष्य को चिरन्तन आभास होता रहता है और जिसके बारे में वह दूसरों को बताना चाहता है, वह घट, पट, आदि की अभिधात्मक भाषा के द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता। उसके लिए भाषा के एक अन्य प्रकार के प्रयोग की आवश्यकता होती है जो काव्य और साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है और जिसके पठन-पाठन में मनुष्य को अपने अस्तित्व के एक ऐसे स्तर की झलक दिखाई देती है जिसे वह अत्यधिक मूल्यवान् मानता है।

पर अगर हम यह स्वीकार भी कर लें तो भी यह कठिनाई तो उत्पन्न होगी ही कि क्या सारे जगत् के आध्यात्मिक साहित्य को लोग कविता के रूप में मानने के लिए तैयार हो जायेंगे और उसको कविता के रूप में देखने से जो समस्या उत्पन्न होगी, वह क्या ऐसा करने वाले लोगों को स्वीकार होगी?

पर इसके अलावा एक बात और भी कही जा सकती है, जो परम्परा में कही भी गई है, कि वास्तव में बहुत सारे इन संदर्भों में इन लक्षणों को 'तटस्थ लक्षण' के रूप में लेना चाहिए न कि उस वस्तु या विषय या स्थिति के लक्षणों के रूप में जिसकी चर्चा की जा रही है। 'तटस्थ लक्षण' का मतलब यह होता है कि वह स्वयं

में उस वस्तु या स्थिति का लक्षण नहीं होने पर भी आपको उसके पास पहुँचने में या उसको जानने में सहायक होता है। इसके अनेकानेक उदाहरण दिये जाते हैं जो साधारण जीवन में कई बार प्रयोग में भी आते हैं। मिसाल के तौर पर, हम अक्सर ऐसा कहते हैं कि जामा मस्जिद के तीसरे दरवाजे के सामने होना उस दुकान का कोई अनिवार्य गुण नहीं है, परन्तु इस प्रकार के वर्णन से आपको उसको ढूँढने में आसानी हो सकती है। इसी को 'अरुन्धती न्याय' भी कहा जाता है। इसका मतलब यह होता है कि अगर किसी को रात को आसमान में कोई तारा देखना हो तो उस तारे को सीधा न दिखाकर पास वाले तारे की सहायता से दिखाया जाये जो ज्यादा आसानी से दिखाई दे सकता है। कहने का सीधा-साधा मतलब यह है कि इन लक्षणों को लक्षणा या व्यंजना के रूप में न लेकर उनको सीधे अभिधा के रूप में भी लिया जा सकता है लेकिन एक दूसरे प्रकार से, जिससे उस वस्तु या स्थिति के पास पहुँचने में मदद मिलती है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। 'तटस्थ लक्षण' की बात अधिकतर अद्वैत वेदान्तियों ने की है, जहाँ ब्रह्म का वास्तव में अपना कोई स्वरूप नहीं होता, और इसलिए जिसका अपना कोई स्वतंत्र लक्षण बनाया ही नहीं जा सकता और जो नेति-नेति के द्वारा ही इंगित किया जा सकता है। पर जो लोग इस प्रकार के निर्गुण को नहीं मानते उनके लिए तटस्थ लक्षण का क्या कोई महत्त्व होगा? क्योंकि ब्रह्म को, या जो भी चरम सत् है, उसको सगुण मानते ही उसका ऐसा अपना लक्षण मानना पड़ेगा जो शुद्ध अभिधा के द्वारा इंगित किया जा सके। और अगर हम यह बात ध्यान में रखें कि अद्वैत वेदान्तियों को छोड़कर सभी सगुण सत् की बात करते हैं तो फिर जो वे कहते हैं उसके बारे में तटस्थ लक्षण की बात करना कहाँ तक ठीक होगा?

तटस्थ लक्षण की बात छोड़ भी दें तो भी एक अन्य रूप में समस्या उठाई जा सकती है और यह कहा जा सकता है कि जब हम चरम सत् या चरम पुरुषार्थ की बात करते हैं तब उसका जो भी लक्षण बनायेंगे वह अनिवार्य रूप में इस प्रकार का होगा कि वह अपने से विरोधी गुण को अपने से अलग या बाहर नहीं रखेगा। व्यवहार तक लक्षण का अर्थ माना जाता है। पर जो चरम सत् है चरम पुरुषार्थ है उसको अगर हम इस प्रकार समझें कि वह अपने से कुछ भी अलग नहीं रखता और उसमें सब कुछ किसी न किसी रूप में समाविष्ट है तो फिर उसका कोई भी लक्षण एक तरह से हमें भ्रम में ही डालेगा जब तक कि हम उसके बारे में जैन दर्शन की अनेकान्त वाली दृष्टि को न अपनायें।

परन्तु इस बात के बारे में दो सहज सवाल उठते हैं। एक यह कि जिसको हम चरम सत् कहते हैं उसमें और चरम पुरुषार्थ में कुछ भेद अवश्य करना पड़ेगा, क्योंकि पुरुषार्थ मनुष्य की साधना का लक्ष्य होता है और ऐसा कहना कठिन है कि मनुष्य की साधना का लक्ष्य सब कुछ ही हो सकता है। क्योंकि इस 'सब कुछ' में

ऐसा साध्य भी शामिल होगा जो किसी भी दृष्टि से अच्छा नहीं माना जा सकता। कुछ हद तक यह बात चरम सत् के बार में भी सच मालूम होती है। क्योंकि उसमें भी जिन चीज़ों को हम असत्य या अशिव या असुन्दर मानते हैं उनका उसमें समावेश सही कैसे लगेगा? पर उसको कम से कम द्वन्दान्तीत तो माना ही जा सकता है और इस अर्थ में उन सब गुणों से परे समझा जा सकता है जिसको मनुष्य की चेतना के संदर्भ में एक दूसरे का विरोधी मानते हैं। वास्तव में ऐसा सवाल 'मूल्यों' को लेकर ही उठता है और मूल्य अपने आप में द्वन्दात्मक ही नजर आते हैं। पर सत् का मूल्य से सम्बन्ध क्या है इसका फैसला आसानी से करना मुश्किल है। लेकिन 'पुरुषार्थ' की बात तो मूल्यों को माने बगैर की ही नहीं जा सकती।

दूसरी ओर अनेकान्तता की बात करना भी समस्या से खाली नहीं है। पहली बात तो यही है कि आखिर 'अनेक' का मतलब क्या है? क्या 'अनेक' का मतलब 'अनन्त' है और फिर अनन्त का स्वयं में मतलब क्या होगा? आज के गणित में अनेक प्रकार के अनन्तों की चर्चा है और कई 'अनन्त' तो एक दूसरे से कम ज़्यादा भी माने जाते है। पर अगर हम गणित की बात छोड़ भी दें तो भी कम से कम जैन दर्शन के संदर्भ में कुछ अन्य समस्याएँ तो उठेंगी ही। पहली तो यह कि जैन दर्शन अनेकात्मकता को चरम सत् का ही गुण नहीं मानता, वस्तु मात्र का गुण मानता है। लेकिन अगर हरेक वस्तु के अनन्त गुण हैं तो फिर उन वस्तुओं में भेद का आधार क्या होगा? उनको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मानने में ही यह बात निहित होगी कि कम से कम कुछ गुण ऐसे हैं जो एक वस्तु में हैं और दूसरी में नहीं। और अगर ऐसा है तो दोनों को समान रूप से अनैकान्तिक कहने का क्या अर्थ होगा?

किसी भी तरह से सोचें, घूम-फिर कर हम मानवीय सोच-विचार की सीमाओं पर लौटते दिखाई देते हैं। मनुष्य के सीमित अनुभव के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है और इस बारे में अनेक प्रकार की चर्चा हो सकती है। पर, जैसे ही हम इन सीमाओं का उल्लंघन करते हैं और किसी चरम सत् या चरम पुरुषार्थ की बात करते हैं तो ऐसा लगता है कि यह मनुष्य के विचार के बस के बाहर है। अगर ऐसा है तो फिर हमने मनुष्य के बारे में ही क्यों न सोचें और उसकी समस्यओं को एक नई दृष्टि से देखने की कोशिश क्यों न करें? इस दृष्टि में मनुष्य के अनेक आयाम सम्मिलित होंगे और उनके सम्बन्धों की भी चर्चा होगी। यही नहीं, मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध और उसका प्राणि-जगत् से सम्बन्ध भी इस चिन्तन के केन्द्र-बिन्दु होंगे। इसके अलावा मनुष्य के जड़ जगत् से भी सम्बन्ध की बात होगी। कुछ इस प्रकार का चिन्तन उपनिषद् के ऋषियों ने करने की कोशिश की थी। वहाँ अन्नमय कोष और प्राणमय कोष की बात उतनी ही है जितनी विज्ञानमय या आनन्दमय कोष की। पर चिन्तन के इन आयामों को जल्दी ही भुला दिया गया और ऐसी अन्य बातें दर्शन के चिन्तन की केन्द्र बनीं जिनका देहधारी

मनुष्य से कम ही लेना-देना था। उन समस्याओं का अपना महत्त्व है, क्योंकि वे सीधे बौद्धिक जगत् की समस्याएँ हैं, पर केवल उन्हीं को दर्शन का केन्द्र-बिन्दु मानें तो यह मनुष्य के साथ एक प्रकार का अन्याय ही होगा। या एक अन्य प्रकार से कहें तो यह दर्शन का अपनी जिम्मेदारी निभाना नहीं है। पर यह सहज रूप में भी पूछा जा सकता है कि हम यह जिम्मेदारी की बात क्यों करने लगे? क्या दार्शनिक चिन्तन किसी अन्य के प्रति जिम्मेदार हो सकता है? अपनी चिन्तन-प्रक्रिया का अपने प्रति वफादार होना दो अलग बातें नहीं हैं, और कुछ हद तक हमने यही बात इस लेख में कहने की कोशिश की है। पहले के लेख में भी, जिसका शीर्षक था 'आओ कुछ नया सोचें' इसी तरह की एक अन्य कोशिश की गई थी। अगर आपको इससे कुछ बौद्धिक रसास्वादन हुआ हो तो इस प्रकार के चिन्तन को हम और आगे बढ़ाने की कोशिश कर सकते हैं। बात तो तब है जब आप खुद यह कोशिश करें और कुछ इस तरह की चीज़ 'उन्मीलन' को लिखकर भेजें। आशा है कम से कम 'उन्मीलन' के कुछ पाठक तो ऐसा अवश्य करेंगे। ❑

आओ कुछ और सोचें (3)

अभी कल ही की तो बात है, मैं भूल ही गया था। पर वहाँ पता चला कि एक बहुत बड़ा सेमीनार 'ऋत' पर हो रहा था। 'ऋत' की चर्चा वेदों में हुई है और यह उनमें एक मूल विचार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसलिए इस पर विचार होना स्वाभाविक ही है। पर मैंने एक मित्र से यह भी सुना कि वहाँ बहुत बड़े-बड़े वैज्ञानिक लोग भी भाग ले रहे थे जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के बारे में विचार प्रस्तुत कर रहे थे और यह कहने की कोशिश कर रहे थे कि सारा जड़ जगत्, जो भौतिक विज्ञान का विषय है, उसे गहराई से देखने पर एक ऐसी अन्तर्व्याप्त व्यवस्था का दर्शन होता है जिसे देखकर मनुष्य चकित रह जाता है, और जैसा कि सबको पता है आधुनिक विज्ञान के कई प्रणेताओं ने यह भी कहने की कोशिश की है कि अव्यवस्था से ही व्यवस्था का जन्म होता है। इस बारे में इलिया प्रिगोगिन की किताब भी है **ऑर्डर आउट ऑफ़ केओस**। यही नहीं, आजकल तो केओस पर भी बहुत सी किताबें हैं और इसके गणित की भी संरचना हुई है। पर जरा सोचिए कि शुद्ध जड़ प्रकृति के संदर्भ में यह बात कहने का, कि उसमें व्यवस्था है या अव्यवस्था, यह नियम से संचालित होती है या ऐसे ही, क्या अर्थ होगा? 'अराजकता', 'अव्यवस्था' आदि शब्दों का सार्थक प्रयोग एवं सोच केवल राज्य और मनुष्य की बनाई हुई संस्कृति के संदर्भ में ही मूलत: युक्त है। हम यह मानकर चलते हैं कि जो हो रहा है वह ठीक नहीं है, उससे अनेकानेक मनुष्यों को हानि ही नहीं होती बल्कि प्रत्येक व्यक्ति, जो सहज रूप में अपना काम करना चाहता है और ऐसे काम जो स्वयं में ठीक हैं, कम से कम अशुभ नहीं हैं, या किसी दूसरे का अहित भी जिनसे नहीं होता, उनको भी करने में रुकावट महसूस करता है। अव्यवस्था या अराजकता किसी व्यवस्था या मनुष्य द्वारा रचित नियमों को मानकर चलती है। पर प्रकृति में यह कहने का कि यहाँ अव्यवस्था है या अराजकता है, इसका अर्थ क्या होगा? क्या जब हवा धीरे-धीरे बहती है तब व्यवस्था है और जब तूफान या बवण्डर आकर हजारों घरों को बर्बाद करता है तब वह अराजकता कहलायेगी? इसी तरह, जब भूचाल आता है और पृथ्वी फट जाती है और नगर के नगर नष्ट हो जाते हैं तब क्य वह अव्यवस्था या अराजकता की सूची में माना जाएगा? क्या कभी कोई ऐसा उदाहरण सोचा जा सकता है जो प्रकृति में अराजकता या अव्यवस्था होने का उदाहरण हो? वैसे तो जो भी होता है